# आख़िर किसका प्रचार करती हैं प्रोपेगेंडा फ़िल्में

फ़िल्म 'धुरंधर' और 'धुरंधर [2] द रेवेंज' की कामयाबी से पहले कहा जाता था कि प्रोपेगेंडा फ़िल्में बॉक्स ऑफ़िस पर कामयाब नहीं होतीं। 'कश्मीर फ़ाइल्स' की कामयाबी का ज़िक्र अपवाद स्वरूप हुआ करता था। लेकिन धुरंधर ने इस तथ्य को ग़लत साबित किया है।यह फ़िल्म अगर सिर्फ़ भाजपा या प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी का प्रचार कर रही होती [ऊपरी तौर पर करती भी है] तो हम कह सकते थे कि हर किसी को अपने प्रचार का हक़ है। लेकिन यह राजनीतिक पार्टी और व्यक्ति से कहीं आगे जाकर फ़ासीवाद-नाज़ीवाद का प्रचार करती है।

'धुरंधर' में भारत के इंटेलिजेंस एजेंसी का चीफ़ 'अजय सान्याल' यही कहते देखा गया है कि जब कोई ऐसा आदमी आएगा जिसको देश से प्यार होगा तभी वह कुछ अच्छा काम कर पाएगा [संवाद में जो कहा गया उसके शब्द और उसका ढांचा भिन्न हो सकता है पर उसका अर्थ यही था]। इस फ़िल्म में तीन आतंकवादी घटनाओं का चित्रण हैं। पहली घटना – कंधार हवाई जहाज़ अपहरण, जो भाजपा के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार के समय घटित हुई, दूसरी घटना – संसद पर हमला, उस समय भी भाजपा के अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार थी और तीसरी घटना – मुम्बई पर हमला, उस समय कांग्रेस पार्टी के मनमोहन सिंह की सरकार थी। ऊपरी तौर पर आपको यह लग सकता है कि फ़िल्म बनाने वाले ने कितनी निष्पक्षता दिखाई है कि कांग्रेस हो या भाजपा सब की नाकामी बेझिझक और बेहिचक उधेड़ कर रख दी है। पर उन दो सरकारों की नाकामी की आड़ में इंटेलिजेंस एजेंसी के सान्याल साहब की नाकामी को फ़िल्म में छिपा लिया जाता है। फ़िल्म बनाने वाले यह भी संकेत देते हैं कि अटल बिहारी वाजपेयी [भाजपा] और मनमोहन सिंह [कांग्रेस] को देश से प्यार नहीं था और अप्रत्यक्ष रूप से वे पाकिस्तानियों या आतंकवादियों की मदद कर रहे थे, ज़ाहिर है कि जिसे शब्दों में नहीं कहा गया है।

अगर हम यह मान भी लें [जबकि सिनेमा बनाने वाले बड़े सुविधाजनक तरीके से फ़िल्म की कहानी को काल्पनिक बताते हैं और सच्ची घटना होने का भ्रम भी रचते हैं] कि अटल बिहारी वाजपेयी और मनमोहन सिंह की सरकार ने देश के इंटेलिजेंस एजेंसी को आतंकवादी घटनाओं के बाद कुछ करने नहीं दिया तो भी यह सवाल तो बनता ही है कि उन घटनाओं के होने के पहले हमारे देश की इंटेलिजेंस एजेंसी [सिनेमा वाली काल्पनिक एजेंसी] क्या कर रही थी ? अगर उनके पास उन घटनाओं की जानकारी होती तो उन्हें घटित होने के पहले ही नाकाम किया जा सकता था। क्या उस समय की 'काल्पनिक' सरकारों ने सूचना नेटवर्क को ख़त्म कर दिया था ? अगर हाँ। तो 'काल्पनिक इंटेलिजेंस एजेंसी के काल्पनिक सान्याल साहब' और उनकी एजेंसी किस 'काल्पनिक' बात की तनख्वाह ले रही थी ? 'काल्पनिक' हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने की और यह कहते रहने की कि उन्हें एक 'काल्पनिक' देश भक्त का इंतज़ार है ?

ऊपर तौर निष्पक्ष दिखने वाली फ़िल्म असल में लोकतंत्र विरोधी है। उसे, भाजपा हो या कांग्रेस, जनता द्वारा निर्वाचित सरकार नहीं चाहिए और संविधान द्वारा बनाई गई प्रशासन व्यवस्था भी नहीं चाहिए। इसलिए 'एक व्यक्ति' का इंतज़ार जो सान्याल साहब की मर्ज़ी के अनुरूप [व्यवस्था से परे] कुछ भी कर सकने की हिम्मत रखता हो, फ़िल्म की मुख्य 'काल्पनिक' चिंता बन जाती है।

फ़िल्म के 'काल्पनिक' पात्र सान्याल साहब यह नहीं समझते कि जब एक व्यक्ति के आने से ही अच्छे दिन आ जाएँगे तो उस समय उनकी क्या ज़रूरत रह जाएगी ? उनका काम भी वही व्यक्ति, जिसका उन्हें है इंतज़ार, कर सकता है क्योंकि वह तो 'काल्पनिक' रूप से सर्वगुण संपन्न होगा।

लोकतंत्र में तंत्र को दरकिनार करके एक निर्वाचित नेता का सत्ता के तमाम सूत्रों को अपने हाथ में ले लेना ही तो फ़ासीवाद-नाज़ीवाद है। इस अर्थ में यह फ़िल्म स्पष्ट रूप से फ़ासीवाद-नाज़ीवाद की समर्थक दिखाई देती है। लेकिन यह दूसरी प्रोपेगेंडा फ़िल्मों से इसलिए भी अलग है कि इसे मसाले और फ़ार्मूले के साथ पेश किया गया है जिससे भरपूर मनोरंजन होता है – इमोशन की आंधी – एक्शन का तूफ़ान। नाच गाने से भरपूर राष्ट्रवादी ड्रामा।

आदित्य धर एक कुशल निर्देशक हैं जिन्हें अपनी फ़िल्मों में तथ्यों को रचनात्मक तरीके से मरोड़ने की कला आती है। उनकी कुशलता देख कर अनायास ही अमेरिका के फ़िल्म निर्देशक जी. डब्ल्यू. ग्रिफ़िथ की याद आ जाती है। ग्रिफ़िथ की कुशलता का यह आलम था कि आज उन्हें हम अश्वेत विरोधी या नस्लवादी भी कहते हैं और दूसरी तरफ़ उसकी फ़िल्म

निर्माण तकनीक के कायल भी रहते हैं। आज फ़िल्म निर्माण जिस मुकाम पर है उसकी बुनियाद में ग्रिफ़िथ की ईजाद की गई अनेक तकनीक और विचार हैं। ग्रिफ़िथ ने ही फ़िल्म को सबसे पहले फ़िक्शन बनाया था।

ग्रिफ़िथ के पहले जो मूक फ़िल्में बनती थीं उनमें सिर्फ़ वास्तविक दृश्यों का चलता हुआ चित्र होता था और बाद में वैसे ही दृश्यों की रचना करके किसी स्टूडियो में उनकी चलती हुई तस्वीर खींची जाती थी। उनका महत्व केवल एक जादुई अनुभव तक ही सीमित था। उन फ़िल्मों में कोई कथानक और आख्यान [नरैटिव] नहीं हुआ करता था। वे सब एक रील की फ़िल्म होती थीं और कभी–कभी दो रील जोड़ कर भी कोई फ़िल्म बनती थी। सब कुछ 'सिंगल शॉट' में ही हुआ करता था लेकिन पहली बार ग्रिफ़िथ ने अलग–अलग शॉट को जोड़ कर एक दृश्य बनाया और इस तरह एडिटिंग की शुरुआत हुई। जैसे मास्टर शॉट और क्लोज़ अप शॉट, वन शॉट और टू शॉट आदि ग्रिफ़िथ की ही देन हैं। इन्हें ही एक दृश्य के लिए आपस में जोड़ा जाता था। ज़ाहिर है कि इसके लिए वास्तविक दृश्यों की तस्वीर असंभव थी, उनकी रचना ही की जा सकती थी, तो इनके लिए स्टूडियो बनाए गए। इस प्रयोग के बाद दर्शक केवल सिनेमा तकनीक के जादुई अनुभव से ही नहीं बल्कि कथा और विचार के अनुभव से भी गुज़रने लगे। अब सिनेमा में ऐसी कहानी की रचना भी संभव हो गई जो वास्तविक रूप से अस्तित्व में ही नहीं थी।

ग्रिफ़िथ ने 1915 में एक ऐसी कहानी की 'रचना' की जिसमें नस्लीय श्रेष्ठता और अश्वेत विरोधी विचारधारा वाले 'कू क्लक्स कलान' [एक संगठन और अभियान] का महिमामंडन किया गया। फ़िल्म का नायक 'कू क्लक्स क्लान' का सेनानी है और उन जैसों द्वारा स्थापित राष्ट्र को ही अमेरिका माना गया है [फ़िल्म में] इसलिए फ़िल्म का नाम 'द बर्थ ऑफ़ ए नेशन' रखा गया। यह फ़िल्म इसलिए भी प्रतिक्रियावादी फ़िल्म थी कि इसमें ग़ुलामी प्रथा के ख़त्म होने का भी अप्रत्यक्ष विरोध दिखाई देता है। इसमें काले रंग वाले पात्रों को लालची और बलात्कारी तक बताया गया है। दिलचस्प यह है कि उन काले पात्रों की भूमिका गोरे अभिनेताओं ने निभाई थी, अपने शरीर पर काला रंग पोत कर।

जैसे ही सिनेमा में 'आख्यान रचना' करने की क्षमता विकसित हुई वैसे ही प्रोपेगेंडा फ़िल्मों की शुरुआत हो गई। इस अर्थ में 'धुरंधर' ग्रिफ़िथ की परंपरा की फ़िल्म साबित होती है। ग्रिफ़िथ की 'द बर्थ ऑफ़ ए नेशन' ने 'धुरंधर' की तरह 1915 में बॉक्स ऑफ़िस पर धमाल मचा दिया था। वैसी कामयाबी ग्रिफ़िथ को फिर कभी नहीं मिली। फिर आदित्य धर जैसे ग्रिफ़िथ के अनेक अनुयायी पूरी दुनिया में पैदा हो गए जो सत्य की आड़ में अर्ध-सत्य और पूर्णतः झूठ पेश करने लगे।

जब अमेरिका के बौद्धिक वर्ग ने ग्रिफ़िथ की उस फ़िल्म का विरोध किया था तो ग्रिफ़िथ ने उसे असहिष्णुता की संज्ञा दी और 'द इंटोलेरेंस' नाम की फ़िल्म भी बना दी जिसे उन गोरे दर्शकों ने देखा जिनकी बग़ल में कोई काला दर्शक नहीं बैठ सकता था [यह उस समय के अमेरिका में सामाजिक व्यवहार था]। ठीक उसी तरह जब भारत में फ़िल्म समीक्षकों ने 'धुरंधर' को प्रोपेगेंडा फ़िल्म कहा तो फ़िल्म बनाने वाली टीम की तरफ़ से प्रतिक्रिया आई कि उन्होंने सच्चाई दिखाई है पर यह भी सच है कि उन्होंने फ़िल्म की शुरुआत में बहुत बड़ा सा डिस्क्लेमर भी दिया है कि यह एक काल्पनिक फ़िल्म है। तो प्रोपेगेंडा फ़िल्म बनाने वालों में इतना आत्म बल नहीं होता कि वे यह कह सकें कि उन्होंने सच्चाई दिखाई है। उन्हें दक्षिणपंथियों की तरह शब्दों से खेलना आता है।

दक्षिणपंथी प्रोपेगेंडा फ़िल्मों का जब विश्लेषण किया जाता है तो उधर से आक्रमण की तरह यह बात कही जाती है कि वामपंथी भी तो अपनी प्रोपेगेंडा फ़िल्में बनाते हैं। हाँ, ज़रूर बनाते हैं।

सोवियत रूस में लेनिन ने सिनेमा की संप्रेषण क्षमता को शुरुआती दौर में ही पहचान लिया था। इसलिए 1917 की कम्युनिस्ट क्रांति के बाद रूस की कम्युनिस्ट सरकार के वित्तीय सहयोग से 1925 में एक फ़िल्म बनी जिसका नाम था – 'बैटलशिप ऑफ़ पोटेमकिन'। इसके निर्देशक थे – सेर्गेई आईज़ेन्स्तीन। यह फ़िल्म 1905 की ज़ारशाही रूस में नाविकों के विद्रोह पर आधारित थी।

फ़िल्म 'बैटलशिप ऑफ़ पोटेमकिन' से एक दृश्य

कम्युनिस्ट प्रोपेगेंडा फ़िल्में जनता के विद्रोह की स्मृति को बचाए रखने के लिए, दर्शकों को अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध प्रेरित करने के लिए और समतावादी-जनवादी विचार के प्रचार के लिए बनाई जाती हैं। क्या 'बैटलशिप ऑफ़ पोटेमकिन' में यह दिखाया जाना उचित होता कि नाविकों को सड़ा हुआ खाना खा लेना चाहिए था, उनके ऊपर हो रहे अत्याचार को सहते जाना चाहिए था और ज़ार [रूसी राजा] के क़सीदे पढ़ते रहना चाहिए था ? नहीं, फ़िल्म ऐसी अत्याचारी व्यवस्था के ख़िलाफ़ दर्शकों को विद्रोह के लिए प्रेरित करती है।

जब भी कम्युनिस्ट प्रोपेगेंडा फ़िल्मों पर हमले किए जाते हैं तो उनका विश्लेषण इस तरह से करना चाहिए कि क्या 'द बर्थ ऑफ़ अ नेशन' की तरह दर्शकों को काले रंग वाले अपने ही साथी नागरिकों के प्रति घृणा के लिए प्रेरित किया जाए ? क्या 'द कश्मीर फ़ाइल' और 'केरला स्टोरी' की तरह दर्शकों के मन में अपने ही मुसलमान साथी नागरिकों के प्रति घृणा पैदा की जाए ? क्या भारत में मुसलमानों की बढ़ती मॉब लिंचिंग में इन फ़िल्मों द्वारा फैलाई गई नफ़रत नहीं है ? वामपंथी प्रोपेगेंडा फ़िल्में और दक्षिणपंथी प्रोपेगेंडा फ़िल्मों के बीच एक मौलिक अंतर है कि वामपंथी प्रोपेगेंडा फ़िल्में पूंजीवादी व्यवस्था की अन्यायपूर्ण चरित्र की कलई खोल कर रख देती हैं लेकिन दक्षिणपंथी प्रोपेगेंडा फ़िल्में एक नागरिक के मन में दूसरे नागरिक के ख़िलाफ़ नफ़रत भरने और हिंसा के लिए उकसाने की भूमिका का निर्वाह करके आख़िकार पूंजीवादी व्यवस्था या यथास्थितिवाद को मज़बूती प्रदान करती हैं। वे इस बात को बताने की कोशिश करती हैं कि आपके जीवन की विसंगतियों के लिए आप स्वयं ज़िम्मेदार हैं जबकि वामपंथी प्रोपेगेंडा फ़िल्में जीवन की विसंगतियों के लिए पूंजीवादी व्यवस्था को ज़िम्मेदार मानती हैं और यह भी मानती हैं इस व्यवस्था को जनता की क्रांति द्वारा बदला जा सकता है।

व्यवस्था बदलने वाली फ़िल्मों के निर्माण की वामपंथी धारा को प्रगतिशील धारा कहना उचित होगा। इस धारा में आज़ादी और स्वाधीनता का जज़्बा होता है। 1942 में जब गांधी जी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो' जैसा आंदोलन चरम पर था, तब उस समय बनने वाली फ़िल्मों ने भी उसमें अपने तरीक़े से योगदान दिया था। 1943 में एक फ़िल्म आई थी

'किस्मत'। ज्ञान मुखर्जी उसके निर्देशक थे और लेखक थे आग़ा जानी कश्मीरी। अशोक कुमार उसके नायक थे। उस फ़िल्म की कहानी का संबंध स्वाधीनता आंदोलन से नहीं था फिर भी उसकी आड़ में कवि प्रदीप से एक गीत लिखवाया गया – 'दूर हटो ऐ दुनिया वालों हिन्दुस्तान हमारा है'। इसका संगीत अनिल बिस्वास ने दिया था। कवि प्रदीप अपने एक इंटरव्यू में बताते हैं कि चूंकि सेंसर बोर्ड अंग्रेज़ों का था इसलिए यह आशंका थी कि इसे प्रतिबंधित किया जा सकता है। तो उन्होंने उस गीत में एक पंक्ति जोड़ी – 'तुम न किसी के आगे झुकना जर्मन हो या जापानी/ आज सभी के लिए हमारा यही कौमी नारा है/ दूर हटो ऐ दुनिया वालों हिन्दुस्तान हमारा है।' इस पंक्ति के आधार पर उस समय के सेंसर बोर्ड को समझाया गया कि चूंकि जर्मन और जापानी अंग्रेज़ों के शत्रु हैं, इसलिए हिंदुस्तानियों को उनके आगे झुकने से मना किया जा रहा है। 'किस्मत' रिलीज़ हुई और कलकत्ता में साढ़े तीन साल तक चलती रही। दर्शक पूरी फ़िल्म देख लेने के बावजूद बार–बार 'दूर हटो ……..' सुनाने की मांग किया करते थे। यह गीत स्वाधीनता आंदोलन का गीत बन गया। पूरे देश में जिसका व्यापक असर देखा गया। यह भी तो प्रोपेगेंडा है। स्वाधीनता आंदोलन का प्रोपेगेंडा।

तो सवाल यह उठता है, [भले ही प्रोपेगेंडा हर विचारधारा के लोग करते हैं], कि हम किस प्रोपेगेंडा के पक्ष में खड़े हैं। प्रगतिशील और स्वतंत्रता की चेतना का विकास करने वाले प्रोपेगेंडा के पक्ष में या नफ़रत, लोकतंत्र विरोधी और प्रतिक्रियावादी भड़काऊ प्रोपेगेंडा के पक्ष में ? यह नहीं भूलना चाहिए कि अमेरिका का जो 'कू क्लक्स क्लान' उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में पूरी तरह ख़त्म हो चुका था, ग्रिफ़िथ की 'द बर्थ ऑफ़ ए नेशन' से बीसवीं सदी में फिर से जाग्रत हो गया और उस समय काले लोगों की मॉब लिंचिंग की अनेक घटनाएं सामने आईं। क्या हम ऐसे प्रोपेगेंडा के पक्ष में हैं जो अपने साथी नागरिकों के विरुद्ध हमें भड़काता है ?

सहज ही यह सवाल पूछा जा सकता है कि 'धुरंधर' में किसके ख़िलाफ़ भड़काने की कोशिश दिखाई देती है ? पाकिस्तान तो हमेशा हमारे साथ बुरा करता है, उसके ख़िलाफ़ फ़िल्म बनाने में क्यों आपत्ति है ? कहीं आप इस फ़िल्म को मुस्लिम विरोधी तो नहीं मान रहे हैं ? तो इसका पहला जवाब तो यह है कि मुस्लिम विरोध होगा तभी उसे नफ़रती प्रोपेगेंडा कहा जाएगा, ऐसा बिल्कुल नहीं है। यह अलग बात है कि 'कश्मीर फ़ाइल्स' और 'केरला स्टोरी' और उनके जैसी ढेरों फ़िल्में पिछले दस बारह सालों में बनीं जो सीधे–सीधे मुस्लिम विरोधी थीं इसलिए भारत में प्रोपेगेंडा फ़िल्मों की छवि मुस्लिम विरोधी फ़िल्म की बन गई है। पर अगर प्रोपेगेंडा फ़िल्मों के सन्दर्भ में यही अंतिम सच होता तो बार – बार यहाँ ग्रिफ़िथ की 'द बर्थ ऑफ़ ए नेशन' का ज़िक्र नहीं किया जाता। 'धुरंधर' और 'धुरंधर [2] द रेवेंज' पाकिस्तान की आड़ में अपने देश के लोकतंत्र की विरोधी फ़िल्में हैं। ये दोनों फ़िल्में भारत के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की सरकार के अलावा हर सरकार को देश विरोधी बताती हुई दिखाई देती हैं जिन्हें जनता ने चुना है। अप्रत्यक्ष रूप से उन तमाम सरकारों के पाकिस्तान परस्त होने का संकेत भी दिया गया है। यह भी बताया-दिखाया गया है कि पाकिस्तान से आने वाले नकली नोट में उत्तर प्रदेश का एक मुस्लिम व्यक्ति शामिल हैं। उस 'काल्पनिक' पात्र का नाम आतिफ़ अंसारी रखा गया है जिसकी छवि दिवंगत अतीक अंसारी से मिलती-जुलती है। ऐसा करके फ़िल्म बनाने वाले अतीक अंसारी की पुलिस सुरक्षा में की गई हत्या को वैधता प्रदान करते हैं और साथ ही अदालत के बाहर बदला लेने को इंसाफ़ की तरह परिभाषित करते हैं। इसमें नोटबंदी पर अनेक अर्थशास्त्रियों द्वारा उठाई गई आपत्तियों और उससे जुड़ी जनता की तकलीफ़ों के तथ्यों को साफ़ दरकिनार करते हुए उसे एक सफल प्रोजेक्ट बता दिया गया है।

'धुरंधर [2] द रेवेंज' में अजय सान्याल कांधार हाईजैक के एक 'काल्पनिक' आंतकवादी को याद दिलाते हैं – क्या कहा था तुमने, हिन्दू बड़ी डरपोक कौम होती है ? उस 'काल्पनिक' आतंकवादी ने पहले 'धुरंधर' में सचमुच यह संवाद बोले थे लेकिन यह संवाद फ़िल्म के लेखक निर्देशक की रचना है यह फ़िल्म देखते समय दर्शक भूल जाता है और उसका ख़ून खौल उठता है। किसके ख़िलाफ़ ख़ून खौलता है ? भारत में रह रहे ग़रीब पड़ोसी मुसलमान के ख़िलाफ़। क्योंकि बदला लेने के लिए उनके पास भारत के मुसलमान ही सहज रूप से उपलब्ध हैं। इसी के साथ यह फ़िल्म हिन्दू ध्रुवीकरण में भी कामयाब हो जाती है जिसका चुनाव में लाभ मिलता है।

अब दोनों 'धुरंधर' के डिस्क्लेमर की शुरुआती पंक्तियों पर ध्यान दीजिये – 'यह फ़िल्म वास्तविक जीवन की घटनाओं से प्रेरित एक काल्पनिक कृति है। यह फ़िल्म एक वृत्तचित्र यानी डाक्यूमेंट्री नहीं है और इसे ऐतिहासिक तथ्यों अथवा घटनाओं का सटीक चित्रण नहीं माना जाना चाहिए'। जबकि इस फ़िल्म को सच्चाई बता कर प्रचारित किया जा रहा है। दूसरे 'धुरंधर' में एक दिलचस्प और हास्यास्पद प्रसंग दिखाया गया है कि भारत से भागा हुआ अंडर वर्ल्ड डॉन और आतंकवादी दाऊद इब्राहिम ही दरअसल पाकिस्तान को चला रहा है। नेता और आईएसआई के लोग उसके कदमों में

बैठते हैं और वह सब को दिशा निर्देश दे रहा है। अगर यह सच है तो 'धुरंधर' के 'काल्पनिक' नायक हमज़ा को पाकिस्तान भेजना ही नहीं चाहिए था क्योंकि जिस देश को दाऊद इब्राहिम चलाएगा उस देश को बर्बाद होने से कौन रोक सकता है ? यहाँ आकर फ़िल्म बनाने वालों की कल्पना भी खोखली पड़ जाती है।

प्रोपेगेंडा फ़िल्मों में ऐतिहासिक तथ्य दो तरह से इस्तेमाल किए जाते हैं। पहला, अगर फ़िल्म निर्देशक चाहता है कि दर्शक तथ्यों को जान कर मानवीय विकास के रास्ते पर चलने को प्रेरित हों और उनके भीतर दूसरों के लिए 'एम्पैथी' पैदा हो तो वह वामपंथी – लोकतांत्रिक दृष्टि से तथ्यों का इस्तेमाल करेगा। दूसरे, अगर फ़िल्म निर्देशक चाहता है कि अन्याय करने वाली सत्ता बची रहे तो वह ऐतिहासिक तथ्यों का इस्तेमाल एक हथियार की तरह करेगा जिनसे साधारण कमज़ोर लोगों का शिकार किया जाएगा। इसे तथ्यों का सशस्त्रीकरण कह सकते हैं।

पूरी दुनिया में कला-साहित्य की यह नैतिकता रही है कि वह कमज़ोर और पीड़ित व्यक्ति के पक्ष में होता है। जबकि नफ़रती प्रोपेगेंडा फ़िल्में वास्तविक जीवन में जो ताक़तवर हैं, जो सत्ता में हैं, उनके पक्ष में होती हैं और पीड़ित–कमज़ोर वर्ग के विरोध में। इसीलिए ऐसी प्रोपेगेंडा फ़िल्मों को लेकर न सिर्फ़ चिंता होनी चाहिए बल्कि इनका विरोध भी होना चाहिए, अहिंसक तरीक़े से।

**फ़रीद ख़ाँ** कवि और पटकथा लेखक हैं।

(लेख में प्रस्तुत विचार उनके अपने हैं)